सर्वमन्यद् व्यलीकं ह्यदो विहाय विपश्चितां व्यलीकम्।
अताम्येतद् व्यलीकं कदाप्यनिच्छन् भुव्यलीकम्।।

विपश्चितां अदः विहाय हि अन्यद् सर्व व्यलीकं व्यलीकं (अस्ति अतः)
भुवि अलीकं व्यलीकं कदापि अनिच्छन् एतत् अतामि।

ये आधि व्याधि समुपाधि सभी अनादि,
से आ रही, पर मिली न निजी समाधि।
चाहूं समाधि, नहिं नाक नहीं किसी को,
चाहें सभी चतुर चेतन भी इसी को।।४८।।

अर्थ – विद्वानों के लिए इस साधुसमाधि को छोड़कर अन्य सब व्यलीक–अकार्य हैं, अप्रिय हैं। मैं पृथ्वी पर मिथ्यास्वर्ग की इच्छा न करता हुआ इस साधुसमाधि को प्राप्त होता हूँ।।४८।।

यो मदादिं न मन्तुं मुञ्चति भुवीशो गन्तुं न मन्तुम्।
तदूनस्तं न मन्तुं जातु स्वमिच्छामि नमन् तुम्।।

यः तदूनः (साधुसमाधिकरणविहीनः) मदादिं मन्तु न मुञ्चति (सः)
मन्तु गन्तु न ईशः स्वं नमन् तुं मन्तु तं जातु न इच्छामि।

मानी नहीं मुनि समाधि करा सकेगा,
तो वीरदेव निज को वह क्या? लखेगा।
सम्मान मैं न उसका मुनि हो करूँगा,
शुद्धात्म को नित नितान्त अहो स्मरूँगा।।४९।।

अर्थ– जो साधुसमाधि से रहित हो अहंकार आदि अपराध को नही छोड़ता है वह मन्तु–परमेष्ठी को प्राप्त करने में समर्थ नहीं है। स्वकीय आत्मा को नमन करता हुआ हैं उस चौरमानव–परपदार्थो को अपना मानने वाले मानव की कभी इच्छा नहीं करता।।४९।।

ततस्तदाप्त्यै भगतस्तिष्ठाम्यहमतिदूरं न तु भगतः।
एवास्यचलन् भगतः परमपदमपीह वृषभ ! गतः।।

ततः तदाप्त्यै (साधुसमाधिकरणाय) अहं भगतः अतिदूरं तिष्ठामि न तु भगतः
हे वृषभ ! भगत अचलन् इह (त्वमपि) परमपदं गतः असि।

वैराग्य का प्रथम पाठ अहो पढ़ाता,
पश्चात् प्रभो प्रथम देव बने प्रमाता।
मैं भी समाधि सधने बनता विरागी,
ऐसी मदीय मन में वर ज्योति जागी।।५०।।

अर्थ – इसलिये उस साधुसमाधि की प्राप्ति के लिये मैं भग–यश से अतिदूर रहता हूँ, भग–वैराग्य से नहीं। हे वृषभजिनेन्द्र ! भग–धर्म से विचलित न होते हुये आप भी परमपद को प्राप्त हुए हैं ।।५०।।

पवनो गतः परागं मुनिमितमिदमिव शस्यतेऽपरागम्।
गता तव गीः परागं सुललनाकरलतेप ! रागम्।।

हे ईप ! परागं गतः पवनः, परागं गता सुललनाकरलता, तव गीः गता (मम)
परा गीः इव अपरागे मुनि इतं इंद (समाधिकरणं) शस्यते।

लाली लगे करलता अति शोभती है,
शोभे जिनेन्द्रनुति से मम भारती है।
होता परागवश बात सुगन्धवाही,
शोभा तभी मुनि करे मुनि की समाधि।।५१।।

अर्थ– हे ईप ! हे लक्ष्मीपते ! जिस प्रकार पराग–पुष्परज को प्राप्त हुआ पवन, पराग –मेंहदी की लाली को प्राप्त हुई सुन्दर स्त्री की करलता और आपके गीत–गुणगान को प्राप्त हुई मेरी वाणी प्रशंसनीय है, उसी प्रकार अपराग–वीतराग मुनि की प्राप्त हुई साधुसमाधि भावना प्रशंसनीय है।।५१।।

भव्यकौमुददोषेशः कामधेनुः सुरागकः।
दिव्यविद्मुक्तिदोमेश मामटेन्नु तरां तु क।।

हे दिव्यविद्मुक्तिद् ! उमेश ! क ! भव्यकौमुददोषेशः कामधेनुः सुरागकः (साधुसमाधिकरणं) मां तरां अटेत्नु (निश्चये) तु (पादपूर्तौ)।

है भव्यकौमुद शशी जगमें समाधि,
है कामधेनु सुर पादप से अनादि
कैसे मुझे यह मिले कब तो मिलेगी?
हे वीर देव ! कब ज्ञानकली खिलेगी।।५२।।

अर्थ– हे दिव्यज्ञान और मुक्ति के दाता ! हे कीर्ति के स्वामी ! हे ब्रह्मन्–हे जिनेन्द्र ! भव्यरूप ! कुमुदसमूह को चन्द्रमा, कामधेनु और कल्पवृक्ष रूप यह साधुसमाधि मुझे निश्चय से अच्छी तरह प्राप्त हो।।५२।।

यथोद्यतमिह रोहितः सततं जगतां नु हिताय रोहितः।
वान्तस्वार्थरोहितः सत्सेवको भव परो हितः

यथा इह रोहितः जगतां हिताय रोहितः नु उद्यतः तथा (त्वमपि) वान्तस्वार्थरोहितः (भवन्) (जगतां) हितः परः सत्सेवकः भव।

राजा प्रजाहित करे पर स्वार्थ त्यागे,
देता प्रकाश रवि है कुछ भी न मांगे।
कर्तव्य मानकर तू कर साधु सेवा,
पाले पुनः परम पावन बोधमेवा।।५३।।

अर्थ–जिस प्रकार इस जगत् में रोहित–वीर राजा जगत् जनों के हित के लिये उद्यत रहता है अथवा उगते हुए रोहित–सूर्य जगत् के हित के लिये तत्पर हैं, उसी प्रकार हे आत्मन् ! तू स्वार्थरूपी रूधिर को वान्त करता हुआ जगत् का हितकारी उत्कृष्ट सेवक हो।।५३।।

ममतमित-मुरः, कुमुदं तदूनमञ्चे न जितमनःकुमुदम्।
बन्धुरयति किं कुमुदं नलिनीदलनन्दनं कुमुदम्।।

तदूनं (साधुरोवाऽकरणशीलं) न अञ्चे (किन्तु) जितमनः कुमुदं मम उरः कुमुदं इतं तं (जिनं) अञ्चे, किं बन्धुः कुमुदं अयति? किं कुमुदं नलिनीदलनन्दनं अयति ? (नेत्यर्थः)

जो साधु सेवक नहीं उन मानियों को,
चाहूं न मैं, नित भजूं मुनि सज्जनों को।
क्या चाहता कृपण को परिवार प्यारा,
क्या प्यार से कुमुद ने रवि को निहारा।।५४।।

अर्थ– साधुसेवा से रहित मानव की मैं पूजा नहीं करता, किन्तु मन के कुमुद–कुत्सित हर्ष –विषयानन्द को जीतने वाले अपने हृदय कुमुद में आये उन जिनेन्द्र की पूजा करता हूँ। क्या बन्धु–कुटुम्ब परिवार कुमुद–कृपण मनुष्य के पास जाता है? अथवा कुमुद–कैरव सूर्य के पास जाता है। अर्थात् नहीं।।५४।।

हरति दययाऽमा नतः प्ररक्षन्नमनो न ! मनो मानतः।
यो मुनिगतामानतः स मुक्तिमेत्यघतोऽमानतः।।

हे अमनः ! न ! यः दययाऽमा नतः मानतः मनः प्ररक्षन् मुनिगतामान्
हरति (सः) अतः अमानतः अघतः मुक्तिं एति।

जो पूर्ण पूरित दयामय भाव से है,
औ दूर भी विमलमानस मान से है।
सेवा सुसाधु जन की करता यहाँ है,
होता सुखी वह अवश्य जहाँ तहाँ है।।५५।।

अर्थ– हे अमनः न ! हे भावमन से रहित जिनदेव ! जो दया के साथ नम्रीभूत तथा मान–गर्व से मन की रक्षा करता हुआ मुनियों के रोगों को हरता है–दूर करता है वह इसके फलस्वरूप अपरिमित पाप से मुक्ति पा जाता है।।५५।।

समौक्तिकोऽत्र कलिङ्गः कलितः कमनीयमणिना कलिङ्गः।
दुर्लभो भुवि कलिङ्गस्तथा युतोऽनेन सकलिङ्गः।।

यथा अत्र भुवि समौक्तिकः कलिङ्गः कमनीयमणिना कलितः कलिङ्गःदुर्लभः तथा
अनेन युतः (वैयावृत्यान्वितः) सकलिङ्गः कलिङ्गः दुलर्भः।

ये साधु सेवक कहीं मिलते यहाँ हैं,
जो जातरूप धरते जग में अहा है।
प्रत्येक नाग, मणि से कब शोभता है ?
प्रत्येक नाग कब मौक्तिक धारता है?।।५६।।

अर्थ–जिस प्रकार इस भूमि पर मोतियों सहित कलिङ्ग–हाथी, और सुन्दर मणि से सहित कलिङ्ग–नाग दुर्लभ है उसी प्रकार इस वैयावृत्य से सहित सकलिङ्ग–निर्ग्रन्थ–नग्नमुद्रा से सहित कलिंग–चतुर जन दुर्लभ है।।५६।।

रतेन निजे पदे न न्विदं शोभते च वस्तुतोऽपदेन।
सरसिजं षट्पदेन पदेन जनपदोऽलं पदेन।।

हे न ! वस्तुतः निजे पदे रतेन अपदेन नु इदं शोभते। सरसिजं षट्पदेन,
जनपदः पदेन यथा (शोभते) पदेन अलम् (अस्तु)।

जैसा सरोज अलि से सबको सुहाता,
उद्योग से जगत में यश देश पाता।
वैसा विराग मुनि से यह साधु सेवा,
होती सुशोभित अतीव विभो सदैवा।।५७।।

अर्थ – हे न ! पूज्य ! जिनवर ! यथार्थतः निज स्वभाव में लीन अपद–दिगम्बर–निर्ग्रन्थ साधु से ही यह वैयावृत्य सुशोभित होता है, उस प्रकार, जिस प्रकार कि षट्पद–भ्रमर से कमल और पद–व्यवसाय–उद्योग से जनपद–देश सुशोभित होता है।।५७।।

श्रेयसा मनसा साधोः सेवा विधीयते मया।
जायतां मयि साऽबन्धोऽहं वा सुधीर्यते यया।।

हे यते ! श्रेयसा मनसा साधोः सेवा मया विधीयते, यया अहं अबन्धः,
मयि सा सुधीः जायतां वा (इतिममानुमानं सम्यक्)।

मैं काय से वचन से मन से सदैवा,
सौभाग्य मान करता बुध साधु सेवा।
होऊँ अबन्ध भवबन्धन शीघ्र छूटे,
विज्ञान की किरण मानस मध्य फूटे।।५८।।

अर्थ– हे यते ! श्रेष्ठ मन से मेरे द्वारा साधु की सेवा की जावे, जिस सेवा से मैं बन्धरहित हो जाऊं और मुझ में वह सुबुद्धि उत्पन्न हो सके।।५८।।

स्तुता यतिपतिना गता वस्तुगताश्च दशा गतानागताः।
निजं जयन्तु ना गता यद्धियं वाधां विना गताः।।

आगतः गताः अनागता च वस्तुगताः दशाः वाधां विना यद्धियं गताः
(ते) नाः ये निजं गताः यतिपतिना स्तुताः जयन्तु।

बाधा बिना सहज से जिनसे निहारे,
जाते अनागत गतागत भाव सारे।
शुद्धात्म में निरत जो जिनदेव ज्ञानी,
वे विश्व पूज्य जयवन्त रहें अमानी।।५९।।

अर्थ– अतीत, अनागत और वर्तमान सम्बन्धी द्रव्यगत पर्यायें बिना किसी बाधा के जिनके ज्ञान में प्राप्त हैं, जो निज स्वभाव को प्राप्त कर चुके हैं और यतिपति–गणधर देवों के द्वारा जो स्तुत हैं; वे जिनेन्द्र जयवन्त हों।।५९।।

खगणः कामहा ! लयं त्वयेत इन इतोसि दृङ्महालयम्।
श्रिया तया महालयं कुरुषेऽये त्वात्र महालयम्।।

हे कामहा ! अत्र त्वया खगणः लयं इतः (अतः) दृङ्महालयं इतः असि,
तया श्रिया महालयं कुरुषे (अतः) इनः असि (अतः) त्वा महालयं (अहं) अये।

•

हो पूर्ण इन्द्रियजयी जितकाम आप,
पाके अन्त सुख को तज पापताप।
क्रीड़ा सदैव करते शिवनारि साथ,
जोडूँ तुम्हें सतत हाथ, अनाथ-नाथ।।६०।।

अर्थ– हे मदनविजयिन् ! इस जगत् में आपके द्वारा खगण–इन्द्रियों का समूह लय–विनाश को प्राप्त हुआ है अतः आप सम्यग्दर्शन रूप महाभवन को प्राप्त हैं। आप उस–अनिवर्चनीय मोक्षलक्ष्मी के साथ आलिङ्गन करते हैं अतः आप इन– स्वामी हैं। इसीलिये महालय–उत्सवों के आलय स्वरूप आपको प्राप्त होता हूँ।– आपकी शरण में आता हूँ।।६०।।

दक्षो दूरोऽक्षरतोऽतितापात् क्षितिं स्रवत् क्षरं क्षरतः।
तथा मामिहारक्षरतो न रक्षरक्षाभरोऽक्षरतः।।

(यथा) इह क्षरतः स्रवत् क्षरं अतितापात् क्षितिं (रक्षति) तथा (त्वं)
अक्षरतः दूरः दक्षः न अक्षरतः अक्षरतः अक्षरः मां रक्ष रक्ष।

पीयूष पावन पवित्र पयोद धारा,
ज्यों तृप्त भूमि तल को करती सुचारा।
त्यों शान्ति दो दुखित हूँ भवताप से जो,
है प्रार्थना मम विभो ! बस आप से यों।।६१।।

अर्थ– जिस प्रकार मेघ से झरता हुआ पानी तीव्र तपन से पृथिवी की रक्षा करता है उसी प्रकार अक्षरतो दूर–अक्षरों से दूर रहने वाले–वचनागोचर, दक्ष–समर्थ अथवा चतुर, न अक्षरतः इन्द्रियों में अनासक्त, अक्षरत–आत्मरत और अक्षर–अविनाशी आप मेरी रक्षा करें, रक्षा करें।।६१।।

मोहोरगरसायनं मुक्तेर्यद् दर्शितमुरसाऽयनम्।
यजेऽलं च रसायनं निरञ्जनं नं स्वरसाय नम्।।

मुक्तेः अयनं यद्दर्शितं मोहोरगरसायनं निरंजनं नं
नं स्वरसाय उरसा यजे (किन्तु) रसाय अलम्।।

हो मोह सर्प, तुम हो गरुड़ेन्द्रनामी,
हो मुक्तिपन्थ-अधिनायक, हो अमानी।
स्वामी, निरञ्जन, न अञ्जन की निशानी,
पूजूँ तुम्हें बन सकूँ द्रुत दिव्यज्ञानी।।६२।।

अर्थ– मुक्ति का मार्ग जिसने दिखाया है जो मोहरूपी सर्प को रसायन–गरुड़ हैं, कर्मकालिमा से रहित हैं और पूज्य हैं ऐसे जिनेन्द्र की मैं आत्मप्रीति के लिये–स्वान्तः सुखाय हृदय से पूजा करता हूँ। रस–इन्द्रियसुख मेरे लिये अपेक्षित नहीं है।।६२।।

स्वीयं मनो जहार गुणमणिमयं पुनर्मनोऽज ! हारम्।।
गतोऽस्ति मनोजहाऽरं न नंक्षति मेऽमनोऽज। हारम्।।

हे मनोजहा। अमनः मनो ! अज ! अज ! (भवान्) स्वीयं मनः जहार पुनः
गुणमणिमयं हारं गतः अस्ति (इति हेतोः) मे रं अरं किं न नंक्ष्यति? हा।

है आदि में स्वमन को फिर मार मारा,
हे आदिनाथ ! तुमने तज भोग सारा।
कामारि हो इसलिये जग में कहाते,
स्वामी ! सुशीघ्र मम क्यों न व्यथा मिटाते ।।६३।।

अर्थ– हे मनोजहा ! कामविनाशक ! हे मनोव्यापार से रहित ! हे अज ! जन्मातीत ! हे अज ! आदिजिनेन्द्र ! आपने अपने मन का हरण किया–उसे स्वाधीन किया है फिर गुणरूपी मणियों से निर्मित हार–कण्ठाभूषण को प्राप्त हुए हो, इसलिये मेरा दुःख अथवा कामाग्नि शीघ्र क्यों नहीं नष्ट होगी? अवश्य होगी।।६३।।

अन्तं गतं ह्यनन्तं तं मानापहं यजेऽप्यजम्।
शान्तं चान्तं जिनं कान्तं येनाऽयेऽहं निजे निजम्।।

अन्तं गतं शान्तं अन्तं अनन्तं कान्तं मानापहं अजं अपि च
तं जिनं अहं यजे येन हि निजे निजं अये।

वे शान्त, सन्त, अरहन्त अनन्त ज्ञाता,
बन्दूँ उन्हें निरभिमान स्वभाव धाता।
होऊँ प्रवीण फलतः पल में प्रमाता,
गाता सुगीत 'जिनका' वह सौख्यपाता।।६४।।

अर्थ-- जो अन्त-स्वभाव को प्राप्त हैं, शान्त है, अन्त-विशुद्ध हैं, अनन्त-अन्तरहित हैं, कान्त-सुन्दर हैं, मान को नष्ट करने वाले हैं और अज-जन्मरहित हैं, उन जिनदेव की मैं पूजा करता हूं जिससे निज में निज को प्राप्त हो रहूँ।।६४।।

काञ्चिदिच्छां भवनतः करोति दरमसितविदाभ ! वनतः।
निजे लयो भवन्नतः सूरयेऽयि तस्मै भव नतः।।

अयि असितविदाभ। यः निजे लयः भवन् वनतः दरं न करोति, भवनतः काञ्चित्
इच्छां (न करोति) तस्मै सूरये त्वं नतः भव।

इच्छा नहीं भवन की रखते कदापि,
आचार्य ये न वन से टरते प्रतापी।
होते विलीन निज में विधि पंक धोते,
पूजो इन्हें समय क्यों तुम व्यर्थ खोते।।६५।।

अर्थ- अयि असितविदाभ ! जिसके ज्ञान की आभा मलिन है ऐसा है अज्ञानजन ! जो निज स्वरूप में लीन होते हुये वन से भय नहीं करते और भवन में कोई इच्छा नहीं करते ,उन आचार्य के लिये तू विनत हो-उनकी भक्ति कर।।६५।।

स्वयमनुसमयञ्चरति परान् चारयति च न परे विचरति।
मुञ्चत्यरतिञ्चरतिमस्तु मम तत्पादयोश्च रतिः

यः सूरिः स्वयं अनुसामयं चरति, परान् चारयति च परे न विचरति,
अरतिं रतिं च मुञ्चति. तत्पादयोः मम रतिः च अस्तु।

शास्त्रानुसार चलते सबको चलाते,
पाते स्वकीय सुखको पर में न जाते,
ये रागरोष तजते सबकी उपेक्षा,
मैं तो अभी कुछ रखूँ उनकी अपेक्षा।।६६।।

अर्थ – जो आचार्य स्वयं शास्त्रानुसार आचरण करते हैं। दूसरों को आचरण कराते हैं, परद्रव्य में विचरण नहीं करते हैं और अप्रीति तथा प्रीति को छोड़ते हैं उनके चरणों में मेरी प्रीति हो।।६६।।

रजोगतमिव लोचकं लोचकः संगत मुनिपालो च कम्।
मत्वात्र मालोचकं सुविदा रक्ष कृपालो चकम्।।

उ ! मुनिपाल ! कं सांगत कृपालो ! मां लोचकं च कं मत्वा सुविदा रक्ष,
अत्र रजोगतं लोचकं लोचक इव।

आचार्यदेव मुझको कुछ बोध देवो,
रक्षा करो शरण में शिशु शीघ्र लेवो।
क्या दिव्य अञ्जन प्रकाश नहीं दिलाता,
क्या शीघ्र नेत्रगत धूलि नहीं मिटाता ?।।६७।।

अर्थ– हे मुनिपाल् मुनियों के रक्षक ! क–सुख अथवा आत्मा को प्राप्त ! दयालो आचार्य ! मुझ निर्बुद्धि को आत्मा मान कर सम्यग्ज्ञान से मेरी उस प्रकार रक्षा करो, जिस प्रकार धूलि से युक्त नेत्र की कज्जल रक्षा करता है।।६७।।

योगैश्च धाराधरः सुविधिध्वंसधृतधृतिधाराधरः।
दुरितविषधाराधरः सज्जनमयूरधाराधरः।।

(अयं सूरिः) दुरितविषधाराधरः, सज्जनमयूरधाराधरः,
कुविधिध्वसधृतधृतिधाराधरः, योगैः च धाराधरः (अस्ति)।

ये योग में अचल मेरु बने हुए हैं,
ले खड्ग कर्मरिपु को दुख दे रहे हैं।
आचार्य तो अमृतपान करा रहे हैं,
ये मेघ हैं, हम मयूर सुखी हुए हैं।।६८।।

अर्थ– यह आचार्य पापरूपी विष की धारा को धारण करने वाले नहीं हैं, सज्जन रूपी मयूरों के लिये धाराधर–मेघ हैं, दुष्ट कर्मों का विध्वंस करने के लिये जिन्होंने धैर्य रूपी खड्ग को धारण किया है और ध्यान के द्वारा धाराधर–पर्वत हैं अर्थात् ध्यान धारण करने में पर्वत के समान स्थिर हैं।।६८।।

यो ज्येष्ठमासंगतप्रतापिनः प्रताप्यपि मासं गतः।
गतः स्वे वासं गतः स निस्पृहो जयतात् संगतः।।

ज्येष्ठमासंगतप्रतापिनः अपि प्रतापी मासंगतः स्वे वासं
गतः सङ्गतः निस्पृहो यः सः (सूरिः) जयतात्।

हो ज्येष्ठ में नित नहीं रवि ओ प्रतापी,
संतप्त पूर्ण करता जग को कुपापी।
आचार्य कोटि शत भास्कर तेज वाले,
देते सदा सुख हमें समदृष्टि वाले।।६९।।

अर्थ – जो ज्येष्ठमास के सूर्य से भी अधिक प्रतापी हैं, दीप्तिमान् हैं, स्वकीय आत्मा में निवास को प्राप्त हैं और परिग्रह से निःस्पृह हैं वे आचार्य जयवंत रहें।।६९।।

आचार्यस्य सदा भक्तिं भक्त्या ह्यये करोमि ताम्।
वै चार्यस्य मुदा शक्तिं युक्त्याऽप्यये गुरोऽमिताम्।।

अये गुरो ! आर्यस्य आचार्यस्य भक्तिं भक्त्या सदा हि करोमि
वै युक्त्या मुदा तां अमितां शक्तिं अपि च अये।

आचार्य को विनय से उर में बिठालूँ,
मैं पूज्यपाद रज को शिरपै चढ़ा लूँ।
हे मित्र ! मोक्ष मुझको फलतः मिलेगा,
विश्वास है यह नियोग नहीं टलेगा।।७०।।

अर्थ – हे गुरो ! मैं पूज्य आचार्य की भक्ति सदा उत्कट अनुराग से करता हूँ। निश्चित ही उनके संपर्क से मैं हर्षपूर्वक उस अपरिमित शक्ति को प्राप्त हो रहा हूँ।। ७०।।

विदामिहाहं रमतिः कदाप्येति न मदमिति मुधा रमतिम्।
स्वस्मिन् स्मरति विरमति स्मरतु तं तु ते ह्युदारमतिः।।

इह भुवि अहं विदां रमतिः इति कदापि मुधा मदं न एति। (स उपाध्यायपरमेष्ठी) रमतिं न स्मरति स्वस्मिन् विरमति ते उदारमतिः तं हि स्मरतु तु पादपूर्तौ।

ज्ञाता बने समय के निज-गीत, गाते,
तो भी कदापि मद को मन में न लाते।
वे ही अवश्य उवझाय वशी कहाते,
भाई उन्हें स्मरण में तुम क्यों न लाते।।७१।।

अर्थ – 'इस पृथ्वी पर मैं ज्ञानों का स्वामी हूँ' इस प्रकार के व्यर्थ मद को जो कभी नहीं प्राप्त होते, जो स्वर्ग का स्मरण नहीं करते तथा अपने आप में विश्राम करते हैं उन उपाध्याय परमेष्ठी का तेरी उदार बुद्धि निश्चय से स्मरण करे।।७१।।

कृतमदममतापचितिर्यस्मादाप्तनिजानुभवोपचितिः।
तस्य ह्यपपाप ! चिति स्थितये क्रियते मयाऽपचितिः।।

यः (उपाध्यायपरमेष्ठी) कृतमदममतापचितिः यस्माद् आप्त -- निजानुभवोपचितिः
तस्य हि हे अपपाप ! चिति स्थितये मया अपचितिः क्रियते।

कालुष्यभाव रतिराग मिटा दिया है,
आत्मावलोकन तथा जिनने किया है।
पूजूँ भजूँ नित उन्हें दुख को तजूँगा,
विज्ञान से सहज ही निज को सजूँगा।।७२।।

अर्थ -- जो मद और ममता की हानि करने वाले हैं तथा जिन्होंने आत्मानुभव की वृद्धि को प्राप्त किया है, हे निरवद्य साधो ! आत्मा में स्थिरता प्राप्त करने के लिये मेरे द्वारा उन उपाध्याय परमेष्ठी की पूजा की जाती है।।७२।।

सकलङ्कः स मितितयाऽभयाञ्चित एणाङ्को भसमितितया।
अकलङ्कः समितितयाऽऽहेतो वरः सुरसमिति-तया।।

स एणाङ्कः भयाञ्चितः मितितया भया अञ्चितः, भसमितितया (अञ्चितः)
(अतः) सकलङ्कः (अयं उपाध्यायपरमेष्ठी) अकलङ्कः तया समितितया (अञ्चितः) अभयाञ्चितः
(तथा) सुरसमितितया अञ्चितः (अतः) वरः इति सुरसं इतः (जिनः आह)।

तारा समूह नभ में जब दीख जाता,
दोषी शशी न दिन में निशि में सुहाता।
पै दोष मुक्त उवझाय सदा सुहाते,
ये श्रेष्ठ इष्ट शशि से जिन यों बताते।।७३।।

अर्थ -- वह चन्द्रमा भय से अञ्चित -- सहित है तथा सीमित भा -- कान्ति से अञ्चित है, नक्षत्रों के समूह से अञ्चित है अतः सकलंक है, परन्तु यह उपाध्याय परमेष्ठी निर्भय हैं, असीमित आत्मज्ञानरूपी दीप्ति से सहित हैं, निष्कलंक हैं और देवसमूह से अंचित -- पूजित हैं, अतः श्रेष्ठ हैं, ऐसा सुरस को प्राप्त जिनदेव ने कहा है।।७३।।

परपरिणतेरवनितः स्वात्मानं स्वागमं योऽवन्नितः।
तेनाप्यते ह्यवनित - द्रव्यमुरसि निजमृषिभिर्वनित।।

हे ऋषिभिः उरसि वनित ! यः परपरिणतेः अवनितः स्वात्मानं अवन् स्वागमं इतः तेन निजं अवनितद्रव्यं आप्यते।

स्वाध्याय से चपलता मन की घटा दी,
काषायिकी परिणती जिनने मिटा दी।
पावें सुशीघ्र उवझाय स्वसंपदा वे,
आवें न लौट भव में गुरु यों बतावें।।७४।।

अर्थ – ऋषि समूह जिसे हृदय में धारण करते हैं ऐसे हे प्रभो ! जो परपरिणति की भूमिस्वरूप कषायभाव से स्वकीय आत्मा की रक्षा करते हुये उत्तम आगम को प्राप्त हुए हैं उन उपाध्याय के द्वारा स्वतः सिद्ध आत्मद्रव्य प्राप्त किया जाता है।।७४।।

निशापतिर्नालीकं तोषयति नायं गवा नालीकम्।
निष्पक्षोऽनालीकं कोऽमुं न मनुतेऽनालीकम्।।

निशापतिः न नालीकं तोषयति अयं तु (उपाध्यायः) निष्पक्षः नालीकं अनालीकं गवा (तोषयति) (ईदृक्कार्ये) कः अनालीकं अमुं न मनुते?

साथी बना कुमुद का शशि पक्षपाती,
भाई सरोज दल का वह है अराती।
पै साम्यधार उवझाय सुखी बनाते,
हैं विश्व को, इसलिये सबको सुहाते।।७५।।

अर्थ – चन्द्रमा गो–किरणों से नालीक कमल को संतुष्ट नहीं करता परन्तु यह उपाध्याय निष्पक्ष हो नालीक – अज्ञ और अनालीक – विज्ञ को अपनी गो अर्थात् वाणी से संतुष्ट करते हैं। इस प्रकार के कार्य में उन्हें कौन प्रिय नहीं मानता?।।७५।।

वैद्यो रोगविनाशीव ह्ययं कामविदारकः।
वन्द्योऽतोऽङ्ग ! जनानां वः स्वयं कामप्रदायकः।।

हे अङ्गः ! रोगविनाशी वैद्यः इव हि अयं (उपाध्यायपरमेष्ठी) कामविदारकः
स्वयं कामप्रदायकः अतः व जनानां वन्द्यः (अस्ति)।

वे वैद्य लौकिक शरीर इलाज जाने,
ये वैद्यराज भवनाशक हैं सयाने।
हैं वन्द्य, पूज्य, शिवपन्थ हमें बताते,
निःस्वार्थपूर्ण निज जीवन को बिताते।।७६।।

अर्थ – अ ङ्ग ! हे भव्यजनो ! रोग को नष्ट करने वाले वैद्य के समान यह उपाध्याय परमेष्ठी काम – मदन अथवा क – आत्मा के अम – रोगों के विदीर्ण करने वाले और काम–मनोरथों के देने वाले हैं अतः आप सब के वन्दनीय हैं।।७६।।

तं जयताज्जिनागमः श्रय श्रेयसो न येन विना गमः।
न हि कलयति मनागगस्त्वां मदो यद् भवेऽनागमः।।

येन विना श्रेयसः गमः न (सः) जिनागमः जयतात्, तं (जिनागमं) (त्वं) श्रय,
यत् त्वां मदः अगः मनाक् न हि कलयति (तदा स्वयं) भवे अनागमः (स्यात्)।

था, है जिनागम, रहे जयवन्त आगे,
पूजो इसे तुम सभी उरबोध जागे।
पावो कदापि फिर ना भवदुःख नाना,
हो मोक्षलाभ, भव में फिर हो न आना।।७७।।

अर्थ – जिसके बिना श्रेय–मोक्ष अथवा कल्याण का मार्ग नहीं मिलता वह जिनागम जयवंत रहे। तू उस जिनागम का आश्रय ले जिससे तुझे अल्प भी अहंकार प्राप्त न हो और यह सब होने पर तेरा संसार में आगमन नहीं हो।।७७।।

अन्येनालं मधुना वनं विविधतरुलतान्वितं मधुना।
मुदमेति यथा मधुना ममात्मानेन चायमधुना।।

विविधतरुलतान्वितं वनं यथा मधुना मुदं एति (तथा) मम अयं आत्मा अधुना मधुना (अनेन) (जिनागमेन) मदं एति च (अतः) अन्येन (विषयवासनाप्रवर्धककामादिशास्त्रेण) मधुना अलं (अस्तु)।

आता वसन्त वन में वन फूल जाता,
नाना प्रकार रस पी दुख भूल जाता।
पीऊँ जिनागम सुधा चिरकाल जीऊँ,
दैवादि शास्त्र मदिरा उसको न पीऊँ।।७८।।

अर्थ – अनेक प्रकार के वृक्ष और लताओं से युक्त वन जिस प्रकार मधु–वसन्त से हर्ष को प्राप्त होता है उसी प्रकार मेरा यह आत्मा इस समय जिनागम रूप मधु–दूध से हर्ष को प्राप्त हो रहा है। इसलिये अन्य विषयवासना को बढ़ाने वाले कामादिशास्त्र रूप मधु–मद्य की मुझे आवश्यकता नहीं।।७८।।

श्रयति श्रमणः समयं सममनसा समयति स समं समयम्।
समेति निजवासमयं विस्मयोऽस्त्विह नो चिरसमयम्।।

यः श्रमणः राममनसा समं समयं श्रयति स समयं समयति, निजवासं समेति, स इह (भवे) चिरसमयं नो अस्तु (अस्मिन् कार्ये) अयं विस्मयोऽपि नो अस्तु।

निष्पक्ष हो श्रमण आगम देखता है,
शुद्धात्म को सहज से वह जानता है।
जाके निवास करना निज धाम में ओ,
संदेह विस्मय नहीं इस काम में हो।।७९।।

अर्थ – जो मुनि मध्यस्थ–दुराग्रहरहित मन के साथ समय–आगम का आश्रय लेता है वह समय – आत्मा को प्राप्त होता है और वह इस संसार में चिरसमय – दीर्घकाल तक नहीं रहे, यह आश्चर्य नहीं है।।७९।।

मुक्तास्ते प्रभावतः संभवन्ति जिना जनाश्च भावतः।
रागादेर्विभावतस्त्वयि रतोऽकलये विभावतः।।

(हे जिनागम !) हे प्रभावतः जनाः जिनाः संभवन्ति। भावतः मुक्ताः संभवन्ति,
रागादेः विभावतः च (मुक्ताः संभवन्ति) अतः अकलये विभौ त्वयि (अहं) रतः (भवामि)।

आधार ले अयि ! जिनागम पूर्ण तेरा,
हैं भव्य जीव करते शिव में बसेरा।
मैं भी तुझे इसलिये दिन रैन ध्याऊँ,
धारूँ तुझे हृदय में सुख चैन पाऊँ।।८०।।

अर्थ – हे जिनागम ! तेरे प्रभाव से सामान्य मनुष्य जिन हो जाते हैं, भव से मुक्त हो जाते हैं और रागादिक विभाव से छूट जाते हैं; अतः अकलय – दुःख का विनाश करने वाले तुझमें रत लीन होता हूँ।।८०।।

दुःखमनुभवन्नवसु ह्यनधिगतागमोऽयं निधिषु नवसु।
प्राप्तवान् सुखं नवसुभानतो विमलज्ञानवसु।।

अयं अनधिगतागमः असुमान् हि नवसु निधिषु अवसु दुःखं
अनुभवन् विमलज्ञानवसु सुखं अतः नो प्राप्तवान्।

ज्ञाता नहीं समय का दुख ही उठाता,
औ ना कभी विमल केवलज्ञान पाता।
राजा भले वह बने, निधि क्यों न पाले,
भाई न खोल सकता वह मोक्ष ताले।।८१।।

अर्थ – जिनागम को नहीं जानने वाला प्राणी निश्चय से नौ निधियों के रहने पर भी अवसुदुःख– निर्धनता के दुःख का अनुभव करता हुआ निर्मल ज्ञानरूपी धन के सुख को इसी कारण प्राप्त नहीं कर सका है।।८१।।

जिनागमं सदा श्रित्वा सादरं समतां व्रजेत्।
यन्ना समं विदा मुक्त्वा वादरं स नतां भजेत्।।

ना जिनागमं श्रित्वा सादरं समतां व्रजेत् (चेत्) यत् स दरं मुक्त्वा
विदा समं नतां भजेत् (वा निश्चये)।

श्रद्धासमेत जिन आगम को निहारें,
जो भी प्रभो ! हृदय में समता सुधारे।
वे ही जिनेन्द्र पद का द्रुत लाभ लेते,
संसार का भ्रमण त्याग विराम लेते।।८२।।

अर्थ -- यदि मनुष्य, आदर से जिनागम का आश्रय ले साम्यभाव को प्राप्त हो तो वह दर--भय छोड़कर ज्ञान के साथ नता -- पूज्यता अथवा जिनेन्द्र--तीर्थङ्कर पद को प्राप्त हो सकता है, यह निश्चय है।। ८२।।

निर्दोषो भुवि सुरभिः सज्जनकण्ठमेति गुणेन सुरभिः।
तथेह समता सुरभिर्न च सुरभीति नाम्ना सुरभिः।।

यथा इह भुवि निर्दोषः सुरभिः, गुणेन सुरभिः सुरभीति नाम्ना सुरभिः सज्जनकण्ठं एति,
तथा च समता (राज्जनकण्ठं एति) न सुरभिः (सज्जनकण्ठं एति)।

हो सूत्र में कुसुम सज्जन कण्ठ जाता,
निर्दोष ही कनक आदर नित्य पाता।
जैसी समादरित गाय सुधी जनों से,
वैसी सदैव समता मुनि सज्जनों से।।८३।।

अर्थ -- जिस प्रकार इस पृथिवी पर निर्दोष सुरभि--स्वर्ण अपने गुण से हार बनकर सज्जन के कण्ठ को प्राप्त होता है, सुरभि--चम्पा गुण--सूत्र में गुम्फित हो सज्जन के कण्ठ को प्राप्त होता है और 'सुरभि' इस नाम से प्रसिद्ध सुरभि--कामधेनु मनोरथों को पूर्ण करने वाले गुणों से सज्जन के कण्ठ को प्राप्त होती है उसी प्रकार समता--साम्य परिणति सज्जन के कण्ठ को प्राप्त होती है, सुरभि--मदिरा नहीं।।८३।।

असमयवर्षास्तमितं धान्यं वसुधातलममनस्तमितम्।
फलति न कमपि स्तमितं ह्यकालिकीनुतिरकास्त! मितम्।।

हे अकास्त ! अमनः। असमयवर्षास्तमितं तं वसुधातलम् इतं धान्यं यथा न फलति
(तथा) हि अकालिकी नुतिः स्तमितं मितं कं अपि न (फलति)।

वर्षा हुई कृषक तो हल जोत लेगा,
बोया असामयिक बीज नहीं फलेगा।
तू देव वन्दन अकाल अरे ! करेगा,
होगा न, मोक्ष तुझको भव में फिरेगा।।८४।।

अर्थ – हे अकास्त ! हे निष्पाप ! हे अमनः ! मनो व्यापार से रहित ! जिस प्रकार असमय की वर्षा से भीगे पृथिवीतल को प्राप्त हुआ धान्य फलता नहीं है; उसी प्रकार निश्चय से अकाल–असमय में की हुई स्तुति किञ्चित् भी स्थायी सुख को नहीं फलती है।।८४।।

अशने सदंशनेन रस इनेन जयो वै सदंशनेन।
प्राप्यतेऽदंशनेन तथा कमगेनाऽदंशनेन।।

हे अंदश ! न ! इन ! यथा अशने सदंशनेन रसः प्राप्यते सदंशनेन
इनेन वै जयः (प्राप्यते) तथा अदंशनेन अगेन कं (प्राप्यते)।

राजा सशस्त्र रण से जय लूट लाता,
हो दाँत, भोजन करो अति स्वाद आता।
सम्यक् जिनेन्द्रनुति भी सुख को दिलाती,
भाई निजानुभव पेय पिला जिलाती।।८५।।

अर्थ – हे अदंश ! हे निर्दोष ! हे पूज्य ! स्वामिन् ! जिस प्रकार भोजन में दन्तसहित मनुष्य के द्वारा रस – स्वाद प्राप्त किया जाता है और कवच सहित राजा के द्वारा निश्चयतः विजय प्राप्त की जाती है उसी प्रकार अखण्ड स्तवन से सुख प्राप्त किया जाता है।।८५।।

अवनितल इव पावनप्रसंगाद् भवति शीतलः पावनः।
अघहननात् स्वपावनप्रदायिन्नुपयोगः पावनः।।

हे स्वप ! अवनप्रदायिन् ! इह अवनितले, पावनप्रसंगात् पावनः शीतल इव श्रुतिमननात् उपयोगः पावनः भवति।

ज्यों वात जो सरित ऊपर हो चलेगा,
हो शीत, शीघ्र सब के मन को हरेगा।
आख्यान अन्त प्रति के बल पा, विधाता,
आत्मा अवश्य बनता सुख पूर्ण पाता।।८६।।

अर्थ – हे स्वप ! हे आत्मरक्षक ! हे संरक्षण देने वाले ! भगवन् ! इस पृथिवीतल पर पावन – जल की संगति से जिस प्रकार पावन–वायु शीतल हो जाती है उसी प्रकार शास्त्र के मनन से उपयोग पावन–पवित्र हो जाता है।।८६।।

सा श्रेयसः कषायात् प्रियाऽलसाशोषायां सकषाया।
लसतु तामसकषायान्न कतपनममानसकषायाः।।

हे अमानसकषायाः ! सा अलसा प्रिया श्रेयसः कषायात् लसतु, उषायां सा आशा (प्राक्) सकषाया (लसतु) (किन्तु) कतपनं तामसकषायात् न (लसतु)।

प्राची प्रभात जब रागमयी सुहाती,
तो अंगराग लगता वनिता सुहाती।
पै राग से समनुरंजित कायक्लेश,
होता सुशोभित नहीं सुख हो न लेश।।८७।।

अर्थ – हे अमानसकषायाः ! जिनके मन में कषाय नहीं है ऐसे हे मुनीजनो ! वह अलसायी स्त्री श्रेष्ठ कषाय–अङ्गराग से सुशोभित हो, और प्रभातकाल में वह प्रसिद्ध पूर्व दिशा सकषाया –लालिमा से सहित होती हुई सुशोभित हो, परन्तु तमोगुण प्रधान कषायभाव से कतपन–पञ्चाग्नितप सुशोभित न हो (वह कुतप–बालतप है)।।८७।।

दुर्वेदनात्मनो यातु लयतां त्वयि सा स्वतः।
संवेदनाऽमुनो जा तु जायतां त्वय्यसावतः।।

उ! अयि ! (मित्र) त्वयि असौ स्वतः जा संवेदना अमुना (प्रतिक्रमणेन)
जायतां (अतः) (अमुना) आत्मनः सा दुर्वेदना तु लयतां यातु (तु पादपूर्तौ)।

दुर्वेदना हृदय की क्षण भाग जाती,
संवेदना स्वयम की झट जाग जाती।
ऐसी प्रतिक्रमण की महिमा निराली,
तू धार शीघ्र इसको वन भाग्यशाली।।८८।।

अर्थ – अयि मित्र ! आप में जो यह स्वानुभूति स्वतः समुदभूत हुई है वह इस प्रतिक्रमण – आवश्यक से उत्पन्न हो और इसी से आत्मा की वह दुःखद वेदना विनाश को प्राप्त हो।।८८।।

भवता निजानुभवतः प्रभोः प्रभावना क्रियतां हि भवतः।
मनोऽवन् मनोभवतः क्षणविनाशविभावविभवतः।।

भवतः क्षणविनाशविभावविभवतः मनोभवतः मनः अवन्
निजानुभवतः हि भवता प्रभोः प्रभावना क्रियताम्।

भाई सुनो मदन से मन को बचाओ,
संसार के विषय में रुचि भी न लाओ।
पाओ निजानुभव को निज को जगाओ।
सद्धर्म की फिर अपूर्व प्रभावना हो।।८९।।

अर्थ – संसार से, क्षणभंगुर विभाव रूप विभव से तथा मनोभव–काम से मन की रक्षा करते हुए आपके द्वारा निजानुभव से प्रभु–जिनेन्द्र की प्रभावना की जावे।।८९।।

सागारकोऽप्यसारं क्षुत्तृड्रुजार्तेषु वितरति सारम्।
मत्वा किल संसारं ह्यवतरति तत् कार्ये साऽरम्।।

(यदा) सागारकः अपि किल संसारं (सारं च) असारं मत्वा क्षुत्तृड्रुजार्तेषु सारं वितरति (तदा) तत्कार्ये (प्रभोःप्रभावना) सा अरं हि अवतरति।।

संसार के विभव वित्त असार सारे,
सागार भी सतत यों मन में विचारे।
रोगी दुखी क्षुधित पीड़ित जो विचारें,
दे, अन्नपान उनके दुख को निवारें।।६०।।

अर्थ – जो गृहस्थ भी संसार को असार मान कर भूख, प्यास तथा रोग से पीडित मनुष्यों पर धन वितरण करता है तब उस कार्य में वह प्रभावना – शीघ्र अवतीर्ण होती है। दीन दुःखी जीवों पर दयादृष्टि से दान देना भी जिन धर्म की प्रभावना होती है।।६०।।

शिष्याः स्युस्तके तव शशिशितवृषयशः प्रसारकेतवः।
दृग्विद्चरितकेतवः कुमतवनाय धूमकेतवः।।

हे ! (जिन !) तव तके शिष्याः शशिशितवृषयशः प्रसारकेतवः कुमतवनाय धूमकेतवः दृग्विदचरितकेतवः च स्युः।

हे वीर देव ! तब सेवक धर्म सेवें,
होवें ध्वजा विमल धर्म प्रसार में वे।
सम्यक्त्व बोध व्रत से निजको सजावें
ज्वाला बनें कुमत कानन को जलावें।।६१।।

अर्थ – हे जिन ! आपके वे शिष्य, चन्द्रमा के समान उज्ज्वल यश का प्रसार करने के लिये केतु–पताका, मिथ्यामतरूप वन के लिये धूमकेतु–अग्नि और दर्शन–ज्ञान–चारित्र रूप केतु – चिन्हों से सहित होंवे।।६१।।

भायाच्च तमां केन सरो रमाभालं कुङ्कुमाङ्केन।
नानया समां केन श्रमणता गतेन मां के न! ।।

हे न रमाभालं कुङ्कुमाङ्केन, सरः केन, के केन समां मां गतेन श्रमणता,
ना अनया (धर्मप्रभावनया) च भायात् तमाम्।

अच्छा लगे तिलक से ललना ललाट,
है साम्य से श्रमणता लगती विराट।
होता सुशोभित सरोवर कंज होते,
सद्भावना वश मनुष्य प्रशस्य होते।।६२।।

अर्थ – हे न ! हे जिन ! ललना का ललाट कुंकुम के चिह्न से, सरोवर जल से, श्रमणता – साधुता आत्मा में साम्यभाव रूपी लक्ष्मी को प्राप्त आत्मा से और मनुष्य इस धर्मप्रभावना से अत्यन्त सुशोभित हो।।६२।।

गङ्का गौश्च वामृतं ददातिगङ्गयालमपि गवाऽमृतम्।
अस्या मानवामृतं मिलति वरं चिदनुभवामृतम्।।

हे मानव ! गङ्गा गौश्च अमृतं ददाति (ततः) गङ्गया गवा अपि अलं (किन्तु)
अस्याः (धर्मप्रभावनायाः) अमृतं अमृतं वरं चिदनुभवामृतं च मिलति।

गंगा प्रदान करती बस शीत पानी,
तो गाय दूध दुहती जग में सयानी।
चाहूँ इन्हें न, इनसे न प्रयोजना है,
देती निजामृत जिनेन्द्र प्रभावना है।।६३।।

अर्थ – हे मानव ! गंगा और गौ अमृत देती है – गंगा जल देती है और गौ दूध देती है, परन्तु गंगा और गौ की आवश्यकता नहीं है। इस धर्मप्रभावना से अमृत–अविनश्वर अमृत–मोक्ष और आत्मानुभवरूप अमृत प्राप्त होता है।।६३।।

संसारागाधपाठीनाकरमज्जितदेहिनाम्।
दासानगारपालानां साररराजिः सदेह ना।।

हे अनगारपालानां दास ! (इयं धर्मप्रभावना) संसारागाधपाठीनाकरमज्जितदेहिनां सदा इह साररराजिः ना (अस्ति)।

संसार सागर असार अपार खारा,
कोई न धर्म बिन है तुमको सहारा।
नौका यही तरणतारण मोक्षदात्री,
ये जा रहे, कुछ गये उस पार यात्री।।६४।।

अर्थ – हे मुनिरक्षकों के दास ! यह धर्मप्रभावना, संसाररूपी गहरे समुद्र में निमग्न प्राणियों के लिये सदा इस संसार में श्रेष्ठ रेखाओं से अंकित नौका है।।६४।।

सद्धर्मिणि धृतसम ! यः वात्सल्यं वत्स इव गौः कृतसमय !।
करोत्याप्यते समयः श्रियस्तेन सदयेन समयः।।

हे धृतराम ! कृतसमय ! यः वत्से गौः इव राद्धर्मिणि वात्सल्यं करोति, तेन सदयेन रामयः आप्यते, श्रियः समयः च (आप्यते)।

गो वत्स में परम हार्दिक प्रेम जैसा,
साधर्मि में तुम करो यदि प्रेम वैसा।
शुद्धात्म को सहज से द्रुत पा सकोगे,
औ मोक्ष में अमित काल बिता सकोगे।।६५।।

अर्थ – हे धृतसम ! सहधर्मा जनों की रक्षा करने वाले! हे कृतसमय – आगम अथवा आचार को करने वाले ! बछड़े पर गाय के समान जो समीचीन धर्म के धारक जनों पर वात्सल्य – स्नेह करता है उस दयालु मानव के द्वारा समय–शुद्धात्मा और मोक्ष लक्ष्मी का समय–समागम प्राप्त किया जाता है।।६५।।

अस्मिन् धृतभाव सति प्रभोऽस्तु हिंसात्मकवृत्तेर्वसतिः।
लसति विहायसि वसति प्रभाकरे किं वसति वसतिः।।

हे धृतभाव ! प्रभो ! अस्मिन् (वात्सल्ये) सति हिंसात्मकवृत्तेः किं वसतिः अस्तु?
विहायसि वसति लराति प्रभाकरे किं वसतिः? (नेत्यर्थः)।

वात्सल्य हो उदित ओ उर में जभी से,
हैं क्रूरभाव मिटते सहसा तभी से।
भानू उगे गगन भू उजले दिखाते,
क्या आप तामस निशा तब देख पाते?।।६६।।

अर्थ – हे धृतभाव ! हे स्वभाव के धारक प्रभो ! इस वात्सल्यभाव के रहते हुये हिंसात्मक – क्रूरवृत्ति की क्या स्थिति हो? अर्थात् नहीं हो। आकाश में देदीप्यमान सूर्य के रहते क्या रात्रि रह सकती है? अर्थात् नहीं।।६६।।

अनलयोगात् कलङ्क स्तथात्मनोऽस्माल्लयमेति कलङ्कः।
सकलं गतः कलं कः कलयति कलमेशोऽकलङ्कः।।

(यथा) अनलयोगात् कलङ्कः लयं (एति) तथा आत्मनः कलङ्कः अस्मात् (वात्सल्यात्)
लयं एति (इति) सकलं गतः कलं (गतः च) कलमेशः अकलंक : कः कलयति।

निर्दोष हो अनल से झट लोह पिण्ड,
वात्सल्य से विमल आतम हो अखण्ड।
आलोक से सकललोक अलोक देखा,
यों वीर ने सदुपदेश दिया सुरेखा।।६७।।

अर्थ – जिस प्रकार अग्नि के संयोग से कलंक नाश को प्राप्त होता है उसी प्रकार वात्सल्यभाव से आत्मा का कलंक–द्वेष नाश को प्राप्त होता है ऐसा सकल -- कलाओं से सहित कल - - परमौदारिक शरीर को प्राप्त, लक्ष्मीपति, कलंकरहित जिनेन्द्र कहते है।।६७।।